

प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत में राजनीतिक प्रक्रियाएँ और राज्य-व्यवस्था की संरचना :- एक अध्ययन

Prof. (Dr.) Anant Prasad Gupta*

Department of History, Purnea University, Purnea

*Corresponding Author: anantgupta943@gmail.com

परिचय: जनकल्याण के नैतिक, आध्यात्मिक एवं भौतिक पक्ष को राज्य के विधि-प्रशासन के माध्यम से सुदृढ़ करना प्राचीन भारतीय राजनैतिक चिंतकों का बार-बार प्रतिपादित उद्देश्य रहा है। उन्होंने जनता के हितों की रक्षा हेतु विकेन्द्रित प्रशासनिक व्यवस्था की अनुशंसा की और उसे व्यवहार में लाने का प्रयास किया। प्राचीन भारत में गणराज्य, कुलीनतंत्र, द्वैतराज्य तथा राजतंत्र जैसी विभिन्न शासन प्रणालियाँ प्रचलित थीं, किंतु समय के साथ अनेक सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक कारणों से राजतंत्र ही प्रमुख शासन-व्यवस्था के रूप में स्थापित हो गया। भारतीय राजत्व के शास्त्रीय सिद्धांत में राजा की भूमिका को विधि-निर्माता एवं प्रशासक—दोनों रूपों में चित्रित किया गया है। यह समझा जाता था कि राज्य के समस्त कार्यों का निर्वहन अकेले राजा के लिए संभव नहीं है, अतः राज्य के विकास और जनकल्याण के लिए राजा को सक्षम मंत्रियों पर निर्भर रहना आवश्यक है।

[Gupta, A.P. प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत में राजनीतिक प्रक्रियाएँ और राज्य-व्यवस्था की संरचना :- एक अध्ययन . *The International Journal of Interpretation, Observation and Analysis*, 2024; Volume 1, Issue 1:50-62 (January-March). ISSN 2349-0713, Peer-reviewed (online/offline), Refereed, Indexed and International Journal (Since 2013), Global Impact Factor: 5.776

Keywords: प्रारम्भिक मध्यकालीन, राजनीतिक प्रक्रियाएँ और राज्य-व्यवस्था

परिचय एवं प्रशासनिक संरचना

जनकल्याण के नैतिक, आध्यात्मिक एवं भौतिक पक्ष को राज्य के विधि-प्रशासन के माध्यम से सुदृढ़ करना प्राचीन भारतीय राजनैतिक चिंतकों का बार-बार प्रतिपादित उद्देश्य रहा है। उन्होंने जनता के हितों की रक्षा हेतु विकेन्द्रित प्रशासनिक व्यवस्था की अनुशंसा की और उसे व्यवहार में लाने का प्रयास किया।

प्राचीन भारत में गणराज्य, कुलीनतंत्र, द्वैतराज्य तथा राजतंत्र जैसी विभिन्न शासन प्रणालियाँ प्रचलित थीं, किंतु समय के साथ अनेक सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक कारणों से राजतंत्र ही प्रमुख शासन-व्यवस्था के रूप में स्थापित हो गया। भारतीय राजत्व के शास्त्रीय सिद्धांत में राजा की भूमिका को विधि-निर्माता एवं प्रशासक—दोनों रूपों में चित्रित किया गया है। यह समझा जाता था कि राज्य के समस्त कार्यों का निर्वहन अकेले राजा के लिए संभव नहीं है, अतः राज्य के विकास और जनकल्याण के लिए राजा को सक्षम मंत्रियों, विभागाध्यक्षों तथा विकेन्द्रित प्रशासनिक तंत्र—जिसमें प्रांतीय, मंडलीय एवं जिला प्रशासन के साथ नगर एवं ग्राम प्रशासन भी सम्मिलित थे—पर निर्भर रहना पड़ता था।

मंत्रिपरिषद

प्राचीन भारतीय राजनैतिक चिंतकों ने मंत्रिपरिषद या परामर्शदात्री सभा को राज्य शरीर का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग माना है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में राजा के मंत्रियों का कोई उल्लेख नहीं मिलता, किंतु यजुर्वेद की संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक स्थानों पर कुछ उच्च पदाधिकारियों का उल्लेख

है जिन्हें *रत्निन* (रत्न कहा गया है), जो संभवतः राजा की परिषद का निर्माण करते थे। रत्नियों में शाही संबंधी, विभागाध्यक्ष तथा दरबारी सम्मिलित थे। पहले वर्ग में राजमाता, महिषी राज्याभिषिक्त प्रमुख रानी और प्रिय रानी (—जिनका उल्लेख सभी प्राचीन ग्रंथों में समान रूप से मिलता है—तथा संभवतः युवराज का स्थान था। इससे यह संकेत मिलता है कि वैदिक युग में रानियाँ केवल राजा की सहचारिणी ही नहीं थीं, बल्कि प्रशासन में भी किसी न किसी रूप से भूमिका निभाती थीं। पुजारी) *पुरोहित*), जो राज पुरोहित कहलाते थे-, सभी रत्निन सूत्रियों में प्रमुख रूप से वर्णित हैं। विभागाध्यक्षों में *सेनानी* (मुख्य सेनापति), *सूत्र* (राजकीय सेना के रथदल के प्रमुख), *ग्रामणी* (ग्राम प्रशासन के प्रमुख), *संग्रहीत* (कोषाध्यक्ष और *भागधुक* (कर संग्राहक का स्थान उल्लेखनीय है।) वैदिक काल के रत्नियों के लुप्त हो जाने के बाद एक अधिक संगठित और प्रभावी मंत्रिपरिषद अस्तित्व में आई। इसे विभिन्न नामों से संबोधित किया गया—जैसे *मंत्रिण*, *सचिव* और *अमात्या* जातक कथाओं में मंत्रियों का बार-बार उल्लेख मिलता है। मौर्य और शुंग वंशों के समय एक नियमित मंत्रिपरिषद होती थी जिसे *मंत्रपरिषद* कहा जाता था, जिसका उल्लेख अभिलेखों और साहित्य दोनों में मिलता है। पश्चिमी भारत के शक शासक भी *मत्तिसचिव* (परामर्शदाता) और *कर्मसचिव* (विभागीय प्रशासन प्रमुख) की परिषद के सहयोग से शासन करते थे। गुप्तकालीन अभिलेखों में भी मंत्रियों का उल्लेख बार-बार होता है। जहाँ तक मंत्रिपरिषद की संख्या का प्रश्न है, *मनु* का मत है कि मंत्रिपरिषद में सात या आठ सदस्य होने चाहिए, जबकि *महाभारत* आठ सदस्यों की संख्या का निर्देश देता है।

शुक्रनीति दस मंत्रियों की परिषद की अनुशंसा करती है। मनु और कौटिल्य इस बात पर सहमत हैं कि मंत्रियों की वास्तविक संख्या राज्य की परिस्थितियों और आवश्यकताओं पर निर्भर होनी चाहिए।

मंत्रिपरिषद की संरचना और संख्या के संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि त्वरित निर्णय और गोपनीयता सुनिश्चित करने के लिए प्रायः तीन या चार महत्वपूर्ण मंत्रियों की एक छोटी कैबिनेट भी गठित की जाती थी।

सेवकों के चयन के विषय में शुक्र इस बात पर विशेष बल देते हैं कि कार्यकुशलता, चरित्र और योग्यता को जाति या कुल की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाए। विवाह और भोजन - समारोह जैसे अवसरों पर कुल परंपरा का विचार आवश्यक है, किंतु राजनैतिक पदों पर नियुक्ति के समय न तो जातिगत श्रेष्ठता और न ही पारिवारिक प्रतिष्ठा को प्रधानता दी जानी चाहिए—केवल कार्य, चरित्र और योग्यता को सम्मान और प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

कौटिल्य ने अमात्यों और अन्य अधिकारियों की भर्ती की एक विस्तृत प्रणाली का वर्णन किया है, जिसके अनुसार वे धर्मोपशुद्ध (नैतिक रूप से शुद्ध), अर्थोपशुद्ध (आर्थिक मामलों में ईमानदार और चरित्रोपशुद्ध (सदाचारयुक्त होने चाहिए)। शुक्र ने अच्छे प्रशासकों के गुणों में सत्यवादिता, श्रेष्ठ कुल, उत्तम आचरण, वेतन से संतोष, मधुर भाषण, दक्षता, समानता, दृढ़ता, कुशलता तथा बुरे मार्गों से विरक्ति आदि को गिनाया है। वे चेतवानी देते हैं कि धोखेबाज, दीन, लोभी, वासनाग्रस्त, दुष्ट, जुआरी, नास्तिक, अभिमानी, ईर्ष्यालु, क्रूर एवं अधार्मिक व्यक्ति अच्छे सेवक नहीं हो सकते।

मंत्रिपरिषद का कार्यक्षेत्र समस्त प्रशासनिक विषयों को समेटे हुए था—नई नीतियों की घोषणा, उनके सफल क्रियान्वयन की व्यवस्था, उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का समाधान, कर और व्यय संबंधी राज्य नीति का संचालन, राजकुमारों की उचित शिक्षा और प्रशिक्षण की व्यवस्था, उनके राज्याभिषेक में भागीदारी, तथा आंतरिक सामंत राजाओं और बाहरी स्वतंत्र राज्यों के संबंध में विदेश नीति का निर्धारण—ये सभी कार्य इसके अंतर्गत आते थे।

मंत्रिपरिषद के कार्यों के विभाजन हेतु शुक्र हमें उनके विभागों की रूपरेखा प्रदान करते हैं। उनके अनुसार दस सदस्यों वाली मंत्रिपरिषद में—

1. पुरोहित (राजपुरोहित या प्रधान पुजारी)
2. प्रतिनिधि (उपराज या वायसराय)
3. प्रधान (प्रधानमंत्री)
4. सचिव (युद्धमंत्री या सेनापति)
5. मंत्रीण (विदेशमंत्री या परामर्शदाता)
6. प्रद्विवाक (न्यायाधीश)
7. पंडित (विद्वान)
8. सुमंत्र (कोषाध्यक्ष या संग्रहकर्ता)
9. अमात्य (राजस्व मंत्री)

10. दूर (गुप्तचर)

इनमें प्रत्येक उत्तरवर्ती मंत्री का पद और वेतन, पूर्ववर्ती से निम्न स्तर का होता था।

मंत्रियों की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। जब राजा शक्तिशाली और सक्षम होते थे, तब प्रशासन राजायतंत्र- (राजा केंद्रित-शासन कहलाता था), लेकिन जब राजा दुर्बल और अक्षम होते थे, तो मंत्री ही वास्तविक शासक बन जाते थे, और प्रशासन सचिवायतंत्र- (मंत्री के (नियंत्रित शासन- रूप में जाना जाता था। सामान्य परिस्थितियों में सत्ता राजा और मंत्रिपरिषद—दोनों में समान रूप से विभाजित रहती थी और शासन दोनों पर समान रूप से निर्भर रहता था।

सचिवालय और विभाग

राजा और उसकी मंत्रिपरिषद मिलकर शासन तंत्र के-मस्तिष्क केंद्र का निर्माण करते थे। किंतु जैसे मस्तिष्क अनेक इंद्रियों और अंगों के सहयोग से कार्य करता है, वैसे ही राजा-परिषद को भी एक केन्द्रीय सचिवालय तथा अनेक विभागों के प्रमुखों की सहायता की आवश्यकता होती थी।

संभावना है कि सचिवालय का क्रमिक विकास उत्तरवैदिक काल में हुआ, जब लेखन कला का अधिक व्यापक उपयोग-आरंभ हो गया था, राज्य साम्राज्य में परिवर्तित होने लगे थे, शासन के कार्य बढ़ते जा रहे थे। अतः यह मानना उचित है कि किसी न किसी रूप में एक केन्द्रीय सचिवालय, पौराणिक राजाओं जैसे युधिष्ठिर और जरासंध, या ऐतिहासिक सम्राटों जैसे अजातशत्रु और महापद्मनंद के दरबार में विद्यमान रहा होगा।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्यकाल में सचिवालय पूर्ण विकसित और सुव्यवस्थित संस्था बन चुका था। विभागों के वरिष्ठ अधिकारियों को लेखक कहा जाता था। ये लेखक मात्र लिपिक नहीं थे; कौटिल्य के अनुसार, उनका दर्जा अमात्यों के समान था, जिनका पद और वेतन केवल मंत्रियों (मंत्रिणों) से ही निम्न था।

प्रशासन की कार्यकुशलता बहुत हद तक सचिवालय अधिकारियों की योग्यता और केन्द्रीय सरकार के आदेशों को तैयार करने में उनकी शुद्धता पर निर्भर करती थी। कौटिल्य कहते हैं—"शासन लेख है और लेख ही शासन है"; शुक्र के अनुसार—"राजसत्ता राजा के व्यक्तित्व में नहीं, बल्कि उसके मुहरबंद और हस्ताक्षरित आदेशों में निहित होती है।"

इसी कारण सचिवालय अधिकारियों के चयन में अत्यंत सावधानी बरती जाती थी। शिक्षा, योग्यता और विश्वसनीयता के दृष्टिकोण से उनसे मंत्रियों जैसी ही उच्च योग्यताओं की अपेक्षा की जाती थी। सबसे महत्वपूर्ण यह था कि वे लेखन और मसौदा तैयार करने में निपुण हों। उनका कर्तव्य था कि राजा या मंत्रियों के मौखिक आदेशों को ध्यानपूर्वक सुनकर उन्हें यथासंभव कम समय में सही और स्पष्ट रूप में लिखित रूप प्रदान करें। इस प्रक्रिया में उन्हें पूर्व अभिलेखों का अध्ययन करना और सुनिश्चित करना होता था

सचिवालय अधिकारियों को यह भी सुनिश्चित करना होता था कि नए आदेश में पूर्व के विचारों या आदेशों से कोई विरोधाभास न हो। इसके बाद वे नए आदेश पत्र का मसौदा-तैयार करते थे, जो प्रासंगिकता, पूर्णता, मधुरता, गरिमा और स्पष्टता से युक्त हो। तथ्यों को या तो कालानुक्रमिक क्रम में अथवा महत्व के अनुसार प्रस्तुत किया जाता, और अनावश्यक पुनरावृत्ति से बचा जाता। विवरण प्रभावशाली और तार्किक होना चाहिए, तथा सरकार द्वारा लिए गए निर्णय के पीछे कारण स्पष्ट रूप से दिए जाते।

जब आदेश पत्र तैयार हो जाता-, तो उसे अंतिम स्वीकृति और हस्ताक्षर के लिए राजा को भेजने से पूर्व संबंधित मंत्री या विभागाध्यक्ष द्वारा जाँचा जाता। राजकीय हस्ताक्षर के पश्चात्, दस्तावेज़ पर मुहर लगाई जाती और उसे उसके गंतव्य तक भेज दिया जाता।

सचिवालय में एक बड़ा अभिलेखागार भी होता था। सामान्य या दैनिक आदेशों को लंबे समय तक सुरक्षित नहीं रखा जाता था, किंतु जिन आदेशों में भूमि प्रदान की जाती या राजस्व आवंटित किया जाता, उन्हें भविष्य के संदर्भ हेतु अत्यंत सावधानी से संरक्षित किया जाता। सभी भूदान के मामलों-में, लेन देन की प्रविष्टि यथाशीघ्र सचिवालय में दर्ज की जाती-थी; इस कार्य में देरी को अनियमित माना जाता और इसके लिए जिम्मेदार अधिकारियों को फटकार मिलती।

केंद्रीय शासन और सचिवालय का एक अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य प्रांतीय, जिला और स्थानीय प्रशासन की देखरेख और नियंत्रण था। इसके लिए—

1. कई विद्वानों ने राजा और उसके अधिकारियों को निरीक्षण यात्राएँ करने की अनुशंसा की थी।
2. केंद्रीय शासन के अपने गुप्तचर और सूचनादाता होते थे, जो प्रांतों में हो रही घटनाओं से उसे अवगत कराते थे। ये प्रायः स्थानीय प्रशासन के अधिकारियों से स्वतंत्र रूप से कार्य करते थे। कौटिल्य ने अपने ग्रंथ में गुप्तचर प्रणाली का विस्तृत वर्णन किया है, जिसमें जासूस विद्यार्थी, संन्यासी, व्यापारी, भिक्षुणी, गणिका, ज्योतिषी आदि के वेश में घूमते और अधिकारियों तथा आम जनता—दोनों के आचरण की रिपोर्ट देते थे।

कई राज्यों में विशेष निरीक्षण अधिकारी नियुक्त किए जाते थे, जिनका कार्य था यह सुनिश्चित करना कि सार्वजनिक धन का दुरुपयोग न हो, न्याय का सही तरीके से प्रशासन हो, और देशद्रोह को तुरंत दंडित किया जाए।

केंद्रीय शासन के निर्णयों को सचिवालय के विशेष दूतों के माध्यम से स्थानीय अधिकारियों तक पहुँचाया जाता था। यह उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य प्रायः उच्च अधिकारियों को सौंपा जाता था।

सामान्य रूप से, विभिन्न विभागों के प्रमुखों को *मौर्यकाल* में *अध्यक्षा* और *शक शासन* में *कर्मसचिव*- कहा जाता था।

आश्चर्यजनक रूप से, *स्मृतियों* में उनका उल्लेख बहुत सामान्य और अस्पष्ट रूप में मिलता है; विस्तृत जानकारी हमें केवल *अर्थशास्त्र* से प्राप्त होती है।

जिसकी पुष्टि हमें अधिकांशतः अभिलेखों से (शिलालेखों) होती है। जहाँ तक विभागों की संख्या का प्रश्न है, महाकाव्यों में सामान्यतः अठारह विभागों का उल्लेख मिलता है, जिन्हें *तीर्थ* कहा गया है।¹³

अर्थशास्त्र में इतनी सीमित संख्या का उल्लेख नहीं है।¹⁴ शुक्रा द्वारा बताए गए विभागों की संख्या लगभग बीस प्रतीत होती है।¹⁵ यदि इन विभागों को आधुनिक समय में प्रचलित प्रशासनिक शीर्षकों के अंतर्गत वर्गीकृत किया जाए, तो इनमें निम्नलिखित सम्मिलित होंगे—

1. **राजकीय गृह विभाग** — इसमें राजवैद्य, राजकवि या विद्वान, राज ज्योतिषी तथा हरम (स्त्री महल) के प्रबंधन हेतु विशेष अधिकारी शामिल थे।
2. **सैन्य विभाग** — जैसा कि कौटिल्य ने उल्लेख किया है, इसमें छह विभागाध्यक्ष होते थे:
 - आयुधागाराध्यक्ष (शास्त्रागार के प्रभारी)
 - नावाध्यक्ष (नौसेना के प्रभारी)
 - अश्वध्यक्ष (घुड़सवार सेना के प्रभारी)
 - हस्त्याध्यक्ष (गजसेना के प्रभारी)
 - रथाध्यक्ष (रथ सेना के प्रभारी)
 - पथ्योद्ध्याक्ष (पैदल सेना के प्रभारी)
3. **विदेश विभाग** — इसे अनेक अधिकारियों में विभाजित किया गया था और इसके अंतर्गत गुप्तचर विभाग का बड़ा स्टाफ कार्य करता था।
4. **राजस्व विभाग** — इसके अधीन अनेक अधीक्षक थे, जैसे—
 - सिताध्यक्ष (राजभू भूमि के प्रभारी)
 - अरण्याध्यक्ष (वन विभाग के प्रभारी)
 - गोदाध्यक्ष (राज्य के पशुधन के प्रभारी)
 - विवीताध्यक्ष (परती भूमि के प्रभारी)
 - महाक्षपटलिक (भूमि अभिलेखों के प्रभारी)
 राजस्व विभाग का प्रमुख कर *भूमि कर* था, जो प्रायः वस्तु के रूप में वसूला जाता था, और इसके संग्रह के लिए बड़ी संख्या में अधिकारियों की आवश्यकता होती थी। यही विभाग *कोषाध्यक्ष* के अधीन कोषागार का भी प्रबंधन करता (खजाना) था।
5. **उद्योग एवं वाणिज्य विभाग** — यह वस्त्र उद्योग, मद्य निर्माण, वेश्यावृत्ति, वधशालाएँ, खदानें, मोती मछली पकड़ना, स्वर्ण उत्पादन आदि की देखरेख करता था। *अर्थशास्त्र* से ज्ञात होता है कि कौटिल्य लाभकारी व्यापार और उद्योगों पर राज्य नियंत्रण के पक्षधर थे। खदानें, मोती मछली पकड़ना और

स्वर्ण उत्पादन प्रत्यक्ष रूप से राज्य के अधीन होते थे; निजी व्यक्तियों को केवल पट्टे पर भागीदारी की अनुमति थी। कपड़ा उद्योग, बनों का विकास, नमक और मद्य निर्माण भी राज्य नियंत्रण में थे। निजी उद्योगों में राज्य यह सुनिश्चित करता था कि श्रमिकों का शोषण न हो और जनता को ठगा न जाए।

6. **वाणिज्य विभाग** — इसमें बड़ी संख्या में अधीक्षक होते थे। इसका कार्य था—

- सरकारी उत्पादों को अनुकूल परिस्थितियों में बाजार में उतारना
- स्थानीय आवश्यकता के अनुसार वस्तुओं का आयात करना और उचित दरों पर उनकी बिक्री की व्यवस्था करना
- माल का निर्यात करना
- मूल्य नियंत्रण रखना
- चुंगी, तौल और माप की देखरेख करना

7. **न्याय विभाग** — जिसकी अध्यक्षता स्वयं राजा करते थे।

राजा स्वयं न्याय का सर्वोच्च स्रोत माना जाता था। न्यायिक विभाग में गाँव स्तर पर पंचायतें और नगर परिषदें, शासकीय न्यायालय, राजकीय न्यायालय, धर्माध्यक्ष (धर्म संबंधी) फौजदार) तथा दण्डाध्यक्ष (मामलों के अध्यक्ष न्यायाधीश) भी मामलों के न्यायाधीश शामिल थे।

पुलिस विभाग का मुख्य कार्य चोरों और डाकुओं का उन्मूलन था।

धार्मिक विभाग (परोहित या पंडित मंत्री के नेतृत्व में) का कार्य धर्म और नैतिकता की रक्षा करना, पुराने अप्रचलित सामाजिक रिवाजों को हतोत्साहित करना तथा-धार्मिक रीति-आवश्यक और उपयुक्त सुधार करना था। इनका दायित्व था कि राज्य के संरक्षण में अस्पतालों, शिक्षा तथा गरीब सहायता जैसे कार्यों में सभी धर्मों को समान रूप से प्रोत्साहित किया जाए।

यह कहा जा सकता है कि इन सभी विभागों का अस्तित्व प्राचीन काल के मध्यम आकार के राज्यों के प्रशासन में था।

अर्थशास्त्र में जो विवरण मिलता है, उसकी पुष्टि अनेक शिलालेखों के प्रमाणों से होती है।

अर्थशास्त्र विभिन्न पदाधिकारियों और अधिकारियों के वेतन का भी विस्तार से उल्लेख करता है—

- महारानी, युवराज तथा प्रमुख मंत्री (जैसे सेनापति) को वार्षिक 48,000 पन प्राप्त होते थे।
- कक्षाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष और राजस्व मंत्री को 24,000 पन।
- सामान्य मंत्री और सीमांत प्रांतों के रक्षक को 12,000 पन।
- अश्व, रथ और हाथी के अधीक्षक को 8,000 पन।

- सेना के चिकित्सक और घुड़साल प्रशिक्षकों को 2,000 पन।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि 'पन' रजत के सिक्के थे या ताम्र के। राज्यों के आकार और संसाधनों के अनुसार वेतन में अंतर होता रहा होगा।

अधिकारियों की नियुक्ति में यह माना गया कि विशेष रूप से वाणिज्य या खनन विभाग में कार्य करने वालों के पास उच्च तकनीकी योग्यता होनी चाहिए। स्मृतियों में यह ज़ोर दिया गया कि केवल योग्य व्यक्तियों को ही कठोर परीक्षा के बाद नियुक्त किया जाए। शुक्राचार्य ने तो यह भी सुझाव दिया कि राज्य को युवकों को विभिन्न तकनीकी पदों के प्रशिक्षण हेतु छात्रवृत्तियाँ देनी चाहिए।

जहाँ विशेष प्रशिक्षण आवश्यक न था, वहाँ जन्म और सामाजिक संबंध नियुक्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे, लेकिन आगे का पदोन्नति क्रम मुख्य रूप से योग्यता पर आधारित होता था। संभवतः मौर्य काल के महामात्य और गुप्त युग के कुमारामात्य आधुनिक **आईसीएस या आईएएस** जैसी एक उच्च श्रेणी के अधिकारी होते थे। इनमें प्रायः उच्च कुल के लोग शामिल होते थे, जो अक्सर पराजित राजपरिवारों के सदस्य होते थे।

इन पदों का उत्तराधिकार में मिलना भी सामान्य था, विशेषकर जब इन अधिकारियों को वेतन भूमि या शाही राजस्व के रूप में दिया जाता था। यह व्यवस्था स्वाभाविक रूप से पदों को वंशानुगत बना देती थी।

प्राचीन भारत में क्षेत्रीय विभाजन

जैसा कि आधुनिक समय में है, वैसे ही प्राचीन काल में भी भारत में क्षेत्रीय विभाजन की योजना एकरूप नहीं थी। कुछ जिलों और प्रांतों का आकार छोटा था, जबकि कुछ बड़े थे। इसका कारण आंशिक रूप से जनसंख्या और भूमि की उर्वरता में अंतर था, और आंशिक रूप से राजनीतिक कारण भी थे। छोटे राज्यों के मामले में, जैसे पल्लव या वाकाटक, में केवल एक ही क्षेत्रीय इकाई होती थी, जिसे विभिन्न रूप से **वैश्य** या **राष्ट्र** कहा जाता था।

एक बड़े साम्राज्य, जैसे मौर्य साम्राज्य, का प्रशासनिक विभाजन लगभग आधुनिक भारत के संघीय शासन जैसा था। यह बड़े बड़े प्रांतों में बाँटा होता था, जो अक्सर आज के राज्यों के बराबर होते थे।

इन प्रांतों को आगे **भागों** में विभाजित किया जाता था, जिन्हें आगे **जिले** (विषय में बाँटा जाता था), और जिलों को आगे **पठक, पेठ** या **भुक्ति** नामक उपविभागों में बाँटा जाता था। इन उपविभागों को आगे छोटे छोटे ग्राम समूहों में विभाजित किया जाता था, जिनमें प्रत्येक समूह में लगभग 10 से 15 गाँव होते थे।

प्रांतीय शासन

आधुनिक अर्थ में प्रांतीय प्रशासन केवल बड़े राज्यों में ही विद्यमान था। मौर्य साम्राज्य को कई प्रांतों में विभाजित किया गया था। इनमें से पाँच के नाम वर्तमान में ज्ञात हैं — उत्तरापथ, अवंतीराष्ट्र, दक्षिणापथ, कलिंग और प्राच्य — जिनकी राजधानियाँ क्रमशः तक्षशिला, उज्जैनी, सुवर्णगिरि, तोसल और पाटलिपुत्र थीं।

शुंग शासन के अंतर्गत मालवा का प्रशासन प्रांतीय शासन का दर्जा और अधिकार रखता था। कनिष्क के साम्राज्य में बनारस, मथुरा और उज्जैनी में शासन करने वाले महाक्षत्रपों का पद और अधिकार भी प्रांतीय राज्यपालों के समान थे।

गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत काठियावाड़, मालवा और गुजरात में भी प्रांतीय प्रशासन स्थापित था।

प्रांतीय प्रशासन के प्रमुख अत्यंत उच्च पदाधिकारी होते थे। अक्सर इन पदों पर राजवंश के राजकुमारों की नियुक्ति की जाती थी। उदाहरण के लिए मौर्य शासन के दौरान बिंदुसार, अशोक और कुणाल सभी ने साम्राज्य के विभिन्न प्रांतों में कुमारराज के रूप में (वाइसरॉय) कार्य किया। शुंग शासन में युवराज अग्निमित्र मालवा में कुमारराज के रूप में सेवा दे रहे थे।

हालाँकि, राजवंश के राजकुमार हर समय कुमारराज के पद के लिए उपलब्ध नहीं होते थे; ऐसे में यह पद साम्राज्य के वरिष्ठतम और सबसे विश्वसनीय अधिकारियों को दिया जाता था, जो प्रायः सैन्य सेनापति भी होते थे। मंत्री पद के साथ साथ कुमारराज के पद के लिए भी सैन्य नेतृत्व को एक आवश्यक योग्यता माना जाता था।

कुमारराजों के पास अत्यधिक और व्यापक अधिकार होते थे। उनका दायित्व आंतरिक व्यवस्था बनाए रखना और अपने अधीनस्थ क्षेत्रों से सटे बाहरी शत्रुओं से साम्राज्य की रक्षा करना था। प्रांतीय कुमारराज, जो अक्सर राजकुमार होते थे, कुमारराजों के अपने दरबार और मंत्री होते थे। उन्हें केंद्रीय सरकार की नीतियों का पालन करना होता था, जो या तो शाही फरमानों के माध्यम से या विशेष दूतों द्वारा उन तक पहुँचाई जाती थीं। चूँकि उस समय संचार व्यवस्था कठिन थी, इसलिए उन्हें स्वाभाविक रूप से पर्याप्त स्वायत्तता प्राप्त थी। कभी कभी वे अपने स्तर पर युद्ध की घोषणा कर देते थे और संभवतः साम्राज्य का) अपने ही तरीके से संधि कर लेते थे। उनके पास (विस्तार करने के उद्देश्य से अपनी स्वयं की सैन्य शक्ति होती थी और केंद्रीय सरकार प्रायः उनके कुछ सैन्य दस्तों को साम्राज्य के अन्य हिस्सों में विद्रोह दबाने के लिए बुला लेती थी।

कुमारराज प्रांत के नागरिक और राजस्व प्रशासन की देखरेख एवं मार्गदर्शन के प्रभारी भी होते थे। यह कार्य स्वाभाविक रूप से राजधानी से प्राप्त आदेशों के अनुसार किया जाता था।

कानून व्यवस्था बनाए रखने और राजस्व संग्रहण की- निगरानी के अलावा, कुमारराज अपने प्रांत के संसाधनों के विकास के लिए कदम उठाते थे — जैसे कि सिंचाई के तालाबों और नहरों जैसी लोक उपयोगी संरचनाओं का निर्माण एवं मरम्मत। उनका उद्देश्य साम्राज्य की नींव को मज़बूत करना, सुशासन सुनिश्चित करना और जनता का विश्वास बढ़ाना होता था।

लगभग सभी विभाग, जो साम्राज्य की राजधानी में मौजूद थे, उनके प्रतिरूप प्रांतीय मुख्यालय में भी अवश्य होते थे। साम्राज्य के कर और राजस्व पहले प्रांतीय मुख्यालय में एकत्र किए जाते थे। प्रांतीय प्रशासन के खर्च पूरे करने के बाद जो शेष बचता, वह राजधानी भेज दिया जाता था।

जिला प्रशासन

हमारे प्राचीन अभिलेखों में वर्णित विषय प्रायः आधुनिक प्रशासन के जिले के समान होता था, जिसमें लगभग एक हजार से दो हजार गाँव शामिल होते थे। विषय का प्रमुख स्वाभाविक रूप से विषयपति या विषयाध्यक्ष कहलाता था, जैसा कि मौर्य प्रशासन में देखा गया है। मनुस्मृति में वर्णित सहस्राधिप — जो एक हजार गाँवों का प्रभारी होता था — संभवतः उसी पद के समकक्ष था। तमिल देश में नाडु एक छोटी प्रशासनिक इकाई थी, परंतु उसके प्रमुख के अधिकार विषयपति के समान ही होते थे।

जिला अधिकारी अपने जिले में (आधुनिक कलेक्टर की तरह) कानून और व्यवस्था बनाए रखने के उत्तरदायी होते थे। उन्हें सरकारी कर और राजस्व की वसूली की देखरेख भी करनी होती थी। इस कार्य में उन्हें गुक्त, संयुक्त, नियुत और व्यापृत जैसे अनेक अधीनस्थ कर्मचारियों की सहायता मिलती थी। मौर्य काल में ये अधिकारी गोप कहलाते थे और उत्तर-गुप्तकालीन गुजरात में इन्हें ध्रुव कहा जाता था।

कानून व्यवस्था बनाए रखने के लिए- विषयपति के पास एक छोटी सैन्य टुकड़ी होती थी। पुलिस विभाग के अधिकारी, जिन्हें दंडपासिक या चोरोधारनिक कहा जाता था, जिला अधिकारियों के अधीन कार्य करते थे। यह स्पष्ट नहीं है कि वाणिज्य, उद्योग और वन विभाग के अधिकारी प्रत्यक्ष रूप से विषयपति के सामान्य पर्यवेक्षण के अधीन आते थे या नहीं, यद्यपि वे अपने अपने विभागाध्यक्षों के निर्देशों के अनुसार-कार्य करते थे। यह भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि विषयपति कोई न्यायिक अधिकार रखते थे या नहीं।

दुर्भाग्य से यह जानकारी उपलब्ध नहीं है कि जिला परिषद के सदस्यों का चुनाव या चयन कैसे होता था। साहूकार और व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधित्व उनके श्रेणी प्रमुख द्वारा किया जाता था। लेखक वर्ग के साथ भी यही व्यवस्था थी। अन्य सदस्यों के विषय में सामान्यतः यही कहा जा सकता है कि विभिन्न वर्गों के वे व्यक्ति, जिन्होंने अपनी आयु, अनुभव और

चरित्र के बल पर विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया हो , उन्हें सर्वसम्मति से परिषद में सम्मिलित किया जाता था। गुप्त काल में जिला प्रशासन सुव्यवस्थित था। इसके पास अपना एक *अभिलेखागार* होता था, जिसका प्रभारी *पुस्तपाट* (अभिलेख कहलाता था। वह केवल खेती योग्य भूमि (रक्षक-ही नहीं, बल्कि परती भूमि और नगरों एवं गाँवों में घरों के स्थलों का भी सही सही अभिलेख रखता था। राज्य के-परिषद की-स्वामित्व वाली परती भूमि के विक्रय हेतु भी जन स्वीकृति आवश्यक होती थी। कुछ भूदान पत्रों पर तो जिला प्रशासन की मुहर भी अंकित होती थी। राजगृह और गया के जिला प्रशासन की मुहरों के नमूने नालंदा से प्राप्त हुए हैं , जिससे ज्ञात होता है कि बाहरी संचार पर उनकी आधिकारिक मुहर लगाई जाती थी। सारा कार्य अत्यंत विधिपूर्वक संपन्न होता था ; यहाँ तक कि जब *विषयपति* स्वयं कोई परती भूमि खरीदना चाहते थे , तो उन्हें परिषद के समक्ष उपस्थित होकर उसकी अनुमति लेनी पड़ती थी।

उप-मंडलीय प्रशासन

जिले और गाँव के बीच में कुछ प्रशासनिक इकाइयाँ होती थीं , जिनका स्वरूप और आकार समय-समय पर बदलता रहता था। मनु का सुझाव था कि दस गाँव मिलकर एक प्रशासनिक इकाई बनाएँ, और ऐसी दस इकाइयाँ मिलकर लगभग 100 गाँवों का एक बड़ा क्षेत्र बनाएँ , जो आधुनिक तहसील या तालुका के लगभग बराबर हो। जिले में , जो मनु के अनुसार लगभग 1000 गाँवों का होता था , कुल दस तहसीलें शामिल होती थीं।

महाभारत इस दशमलव प्रणाली में कुछ परिवर्तन का सुझाव देता है और बीस या तीस गाँवों के मध्यवर्ती समूहों की बात करता है। इन गाँव समूहों की एक संख्या मिलकर आधुनिक तहसील या तालुका जैसी इकाई बनाती थी , जिसे विभिन्न प्रांतों में *पथक*, *पेटा*, *स्थली* या *भुक्ति* कहा जाता था। **खारवतका** और **द्रोणमुख** क्रमशः 200 और 400 गाँवों के समूह होते थे, जो **विशय** (जिला) के उपविभाग के रूप में आधुनिक तहसील के तुल्य माने जा सकते हैं।

केंद्रीय सरकार के **तहसीलदार** अपने क्षेत्रों का प्रशासन **वंशानुगत राजस्व अधिकारियों** की मदद से करते थे , जिन्हें कर्नाटक में **नाडगुंडा** और महाराष्ट्र में **देशग्रामकूट** कहा जाता था। ये अधिकारी स्वयं भी दान देते थे और दूसरों द्वारा दिए गए दान एवं धर्मार्थ संस्थाओं का संचालन करते थे। कभी-कभी वे ऐसे मामलों का निपटारा भी करते थे , जिनमें अनजाने में हुई हत्या शामिल होती थी , जो हत्या की श्रेणी में नहीं आती थी।

नगर प्रशासन

प्राचीन काल में, जैसे आधुनिक समय में होता है, प्रमुख नगरों का प्रशासन छोटे कस्बों और ग्रामीण क्षेत्रों से अलग होता था। वैदिक काल या संहिताओं और ब्राह्मणों के समय के नगर

जीवन के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है। सिकंदर महान के आक्रमण के समय, पंजाब में बड़ी संख्या में नगर और शहर बसे हुए थे। इनमें से अधिकांश नगर काफी हद तक स्वायत्त थे और अपने अपने परिषदों द्वारा शासित होते थे-

संभवतः इन परिषदों में अनुभवी वृद्ध व्यक्तियों को लोकमत की सहमति से शामिल किया जाता था। नगर का मुख्य अधिकारी "**सर्वार्थचिन्तक**" कहलाता था।

गुप्त काल में , इस अधिकारी को "**पुरपाल**" कहा जाता था। यदि नगर किसी ज़िले का मुख्यालय होता , तो ज़िलाधिकारी ही यह कार्य करता था। यदि नगर किला भी होता , तो वहाँ एक अन्य शाही अधिकारी "**कोटपाल**" नियुक्त किया जाता था। प्रायः पुरपाल स्वयं सैन्य अधिकारी होते थे। कभी कभी-इन्हें विद्वानों में से चुना जाता था, जिनकी रुचि छः दर्शनों के अध्ययन को बढ़ावा देने में होती थी। संभव है कि इनमें साहित्यिक योग्यता और सैन्य क्षमता दोनों होती हों।

पुरपाल को एक गैर सरकारी समिति की सहायता मिलती-थी, जिसे देश के विभिन्न भागों में अलग अलग नामों से-पुकारा जाता था— **गोष्ठी**, **पंचकुल**, **चौकडिक** आदि। इस समिति में सभी वर्गों और हितों का प्रतिनिधित्व होता था। कभी कभी नगर को वार्डों में बाँटा जाता था और प्रत्येक वार्ड-से प्रतिनिधि भेजे जाते थे। प्रतिनिधियों का चयन कैसे होता था, यह स्पष्ट नहीं है , लेकिन संभावना है कि अनुभवी और सम्मानित वृद्ध व्यक्तियों को लोकमत से परिषद में भेजा जाता था।

पंचकुल में केवल पाँच ही नहीं, बल्कि कई बार विभिन्न वार्डों के अधिक प्रतिनिधि होते थे। इनके पास एक "**वर**" या कार्यकारी समिति होती थी , जो त्वरित और सुविधाजनक कार्यनिपटान के लिए जिम्मेदार रहती थी। कार्यकारी समिति-के सदस्यों की संख्या परिस्थिति के अनुसार बदलती थी। इनके कर्तव्य थे — सभी कार्यकारी कार्यों की देखरेख , करों की वसूली, सार्वजनिक धन का निवेश और वसूली, न्यास निधियों का प्रबंधन आदि। **वरिकों** को एक स्थायी कार्यालय और कर्मचारियों की मदद मिलती थी। राजस्थान में यह कार्यालय "**स्थान**" कहलाता था, जहाँ महत्वपूर्ण अभिलेख सुरक्षित रखे जाते थे। एक स्थायी सचिव (**कर्णिक**) समिति के अभिलेखों और पत्राचार का प्रभारी होता था। महत्वपूर्ण दस्तावेज़ समिति के निर्देशानुसार सावधानीपूर्वक तैयार किए जाते थे।

एक अधिकारी "**कौसिक**" बाजार शुल्क वसूलने के लिए नियुक्त किया जाता था , जो संभवतः स्थानीय वित्त का मुख्य आधार था। कभी कभी केंद्रीय सरकार के सीमा शुल्क और-तीर्थकर कर भी नगर समिति द्वारा वसूले जाते थे।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र और **मेगास्थनीज़** का विवरण, ईसा पूर्व चौथी और तीसरी शताब्दी में पाटलिपुत्र के निगम का संक्षिप्त वर्णन करता है। साम्राज्य की राजधानी होने के कारण , जहाँ विदेशियों की भीड़ रहती थी, इसका संविधान साधारण नगर समितियों से कुछ अलग था , लेकिन इसके सामान्य सिद्धांत

वही थे। यह 30 सदस्यों के एक मंडल से बना था, जो पाँच उपसमितियों में विभाजित था।- इनमें से—

- एक समिति विदेशियों के मामलों को देखती थी, उनके आवागमन पर नज़र रखती थी और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी यह केवल बड़ी)।(राजधानियों या व्यस्त बंदरगाहों में होती थी
- दूसरी समिति जनगणना और जन्म मृत्यु के- अभिलेख रखती थी।
- तीसरी समिति उत्पादन और विनिर्माण पर नज़र रखती थी यह केवल औद्योगिक नगरों में होती थी।(
- चौथी और पाँचवीं समिति उचित मजदूरी निर्धारण, बाज़ार की निगरानी, शुद्ध और बिना मिलावट का सामान उपलब्ध कराना तथा व्यापारियों से विभिन्न कर और शुल्क वसूलने का कार्य करती थी।

ये कार्य भारतीय इतिहास में अधिकांश नगर और ग्राम समितियों द्वारा किए जाते रहे हैं। सार्वजनिक निर्माण समिति, जिसे तमिल प्रदेश में बाद के समय में **तालाब समिति** या **उद्यान समिति** कहा जाता था, यहाँ उल्लेखित नहीं है। संभव है कि पाटलिपुत्र की आवश्यकताएँ सीधे केंद्रीय सरकार के विभागों द्वारा पूरी की जाती हों। यहाँ किसी उप-समिति का उल्लेख नहीं है जो समुदाय के हित में न्यास निधियों का संचालन करती हो, जैसा कि बाद में नगर परिषदों और ग्राम समितियों द्वारा किया जाता था। संभव है कि यह कार्य पूरी तरह गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा किया जाता रहा हो-, जैसा कि अर्थशास्त्र में संकेत मिलता है।

पाटलिपुत्र जैसी विशाल साम्राज्य की राजधानी में यह स्वाभाविक था कि यहाँ कई सरकारी अधिकारी भी मंडल में नियुक्त हों, जैसे— बाज़ार, कर, तौल और माप के अधीक्षक आदि, जिनका उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है।

ग्राम प्रशासन

प्राचीन काल से ही भारत में ग्राम प्रशासन का केंद्र रहा है। ऐसे युग में, जब संचार के साधन अत्यंत धीमे थे और औद्योगिकीकरण का अस्तित्व नहीं था, ग्राम का महत्व और भी अधिक था। वैदिक युग में राज्य छोटे होते थे, जिससे ग्राम का महत्व और बढ़ जाता था। बाद के समय में, जब राज्य व्यापक हो गए, तब भी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, क्योंकि ग्रामीण समाज में ग्राम ही प्रशासन का स्वाभाविक केंद्र था। यहाँ तक कि बिंदुसार जैसे राजा भी प्रशासनिक नीतियों के महत्वपूर्ण विषयों पर विचार-विमर्श-करने के लिए ग्राम प्रधानों की सभा बुलाया करते थे।

ग्राम वास्तव में सामाजिक जीवन का वास्तविक केंद्र तथा देश की अर्थव्यवस्था की महत्वपूर्ण इकाई थे। उन्होंने राष्ट्रीय

संस्कृति, समृद्धि और प्रशासन की नींव को बनाए रखा और स्थिर किया।

ग्राम प्रधान

ग्राम प्रशासन सामान्यतः ग्राम प्रधान की देखरेख और निर्देशन में संचालित होता था। वैदिक साहित्य में इन्हें **ग्रामणी** कहा गया है और ये **जातकों** में भी बार-बार उल्लिखित हैं।-**अर्थशास्त्र** इनके प्रशासन में महत्व को प्रमाणित करता है और ईसाई युग की पहली सहस्राब्दी के लगभग सभी प्रांतीय अभिलेखों में इनका उल्लेख मिलता है।

उत्तर भारत में इन्हें **ग्रामिक** या **ग्रामेयक**, पूर्वी दक्कन में **मुनुंडा**, महाराष्ट्र में **ग्रामकुट** या **पट्टकील**, कर्नाटक में **गवुंडा** तथा उत्तर प्रदेश में **महत्तक** या **महंतक** कहा जाता था। **शुक्रनीति** में ग्राम प्रधान को ग्रामवासियों का पिता और माता बताया गया है, जो जनकल्याण हेतु उनके हितों की रक्षा करता था।

सामान्यतः प्रत्येक ग्राम में केवल एक ही प्रधान होता था। यह पद प्रायः वंशानुगत होता था, किंतु यदि पुत्र का उत्तराधिकार शासक को स्वीकार्य न हो, तो वह उसी परिवार के किसी अन्य सदस्य को नियुक्त कर सकता था। जाति की दृष्टि से प्रधान प्रायः ब्राह्मण नहीं होते थे; ग्रामसैन्य के नेता होने के कारण वे-कभी वैश्य भी इस पद की- अधिकतर क्षत्रिय होते थे। कभी आकांक्षा रखते थे और इसे प्राप्त कर लेते थे।

ग्राम प्रधान ग्राम प्रशासन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिकारी होता था। वैदिक युग में उसकी उपस्थिति **रत्न** परिषद में दर्शायी गई है और **जातकों** में वह लगभग ग्राम राजा के-समान चित्रित है। ग्राम की रक्षा उसका सर्वप्रमुख कर्तव्य था।

संचार की धीमी गति के कारण केंद्रीय शासन की सहायता तुरंत प्राप्त होना संभव न था, अतः ग्रामवासियों को अपनी रक्षा के लिए आत्मनिर्भर रहना पड़ता था।

ग्राम प्रशासन (संक्षेप)

प्राचीन भारत में ग्राम प्रशासन का संचालन ग्राम प्रधान करता था। उसका मुख्य कार्य राजस्व संग्रह था, जिसके लिए वह ग्राम परिषद के साथ मिलकर काम करता था। उसे आमतौर पर कर-वस्तु के रूप में/ मुक्त भूमि और कुछ अन्न-पारिश्रमिक मिलता था।

ग्राम कार्यालय

ग्राम के सभी भूमि अधिकार-, हस्तांतरण, कर एवं भुगतान से संबंधित अभिलेख ग्राम लेखाकार संभालता था। यह पद अधिकांश प्रांतों में वंशानुगत था और कर-मुक्त भूमि के बदले-सेवाएँ देता था।

अन्य अधिकारी

शुक्रनीति में अन्य चार अधिकारियों का उल्लेख है —

सहसाधिपति न्याय)ाधीश(, भागाहार (राजस्व संग्राहक), शुल्कग्रह (शुल्क वसूलने वाला), और प्रतिहार।(द्वारपाल)

ग्राम सभा

ग्राम सभा में सभी सम्मानित गृहस्वामी सदस्य होते थे। सभा का आयोजन प्रायः मंदिर, चौपाल या वृक्षों के नीचे होता था। महाराष्ट्र, कर्नाटक और तमिल क्षेत्रों में यह सभा ग्राम के कल्याण कार्य, विवाद समाधान और नाबालिगों की संपत्ति की देखरेख करती थी।

चुनाव व समितियों

कुछ क्षेत्रों में समिति सदस्य लॉटरी से चुने (चिट्ठी निकालकर) जाते थे, जिससे पक्षपात की गुंजाइश न रहे। चुने गए सदस्य उद्यान प्रबंधन, जल वितरण, विवाद समाधान, सोने की शुद्धता जाँच और अन्य कार्यों की समितियों में नियुक्त होते थे। उत्तर भारत में ग्राम परिषद प्रायः पाँच सदस्यों की होती थी जिसे *पंचायत* कहा जाता था।

यह विवरण प्राचीन भारत में **ग्राम पंचायतों (ग्राम सभाओं)** और उनके कार्यों का है, विशेष रूप से उत्तरमेरी (Uttaramerur) जैसे स्थानों में अपनाई जाने वाली चयन प्रणाली तथा विभिन्न क्षेत्रों में पंचायतों की शक्तियों और जिम्मेदारियों का विस्तार से वर्णन करता है। इसे हम क्रमबद्ध तरीके से हिन्दी में विस्तार से समझ सकते हैं—

1. ग्राम पंचायत के सदस्य चयन की प्रणाली उत्तरमेरी (उदाहरण

- उत्तरमेरी में ग्राम पंचायत के **उप समितियों के- सदस्य** चिट्ठियों द्वारा चुने जाते थे। (लॉटरी)
- गाँव को **तीस वार्डों (भागों)** में बाँटा गया था।
- हर वार्ड के लिए कई नामांकन होते थे (नॉमिनेशन) अलग पक्षियों- और प्रत्येक प्रत्याशी का नाम अलग पर लिखा जाता था।
- उस वार्ड की सभी पक्षियाँ एक पात्र में (मटका) रखी जाती थीं।
- फिर एक **छोटा बच्चा**, जो पूरी तरह निष्पक्ष और अनजान होता था, एक पक्षी निकालता था।
- जिस व्यक्ति का नाम उस पक्षी पर होता, वह उस वार्ड का **निर्वाचित सदस्य** बन जाता।
- इस प्रक्रिया में न तो **चुनावी प्रचार (कैनवसिंग)** का स्थान था और न ही **पक्षपात या दलगत राजनीति** का।

चुनाव और सदस्यता में सामाजिक दृष्टिकोण

- आधुनिक चुनावों जैसी **पार्टी प्रतिद्वंद्विता** या **ईर्ष्या** का भाव नहीं था।
- योग्य व्यक्ति को समय समय पर ग्राम सभा में- **मौजूद सभी सम्मानित गृहस्वामियों की सहमति**

)Consensus) से परिषद का सदस्य बनाया जाता था।

- जाति का प्रभाव** सदस्य चयन में नहीं होता था।
- गुप्तकाल में कई **गैरब्राह्मण-** भी परिषद में कार्यरत थे।
- मराठा काल के अनेक **ग्राम न्याय निर्णयों** पर **गैर-ब्राह्मण** ही नहीं, बल्कि **अछूतों** के भी हस्ताक्षर मिलते हैं।

समितियों का गठन और उनके कार्य

चुने गए 30 व्यक्तियों को अलग अलग समितियों में बाँटा जाता था—

- उद्यान एवं बाग बगीचा समिति-** – गाँव के बाग - बगीचों का प्रबंधन।
 - तालाब एवं जल वितरण समिति** – गाँव के तालाब और सिंचाई जल का बंटवारा।
 - विवाद निपटान समिति** – गाँव में झगड़े और विवाद सुलझाना।
 - सोना परख समिति** – सोने की शुद्धता की जाँच सभी के लिए समान रूप से।
 - पंचवार समिति** – विशेष प्रशासनिक कार्यों के लिए।
- इसके अतिरिक्त **वार्षिक समिति (वरियन्-संवत्सर)** नामक एक **सामान्य पर्यवेक्षण समिति** होती थी।
 - आवश्यकता के अनुसार अन्य समितियाँ भी बनती थीं, जैसे— **भूमि सर्वेक्षण समिति**, **मंदिर समिति**, **शिक्षा समिति**।

उत्तर और दक्षिण भारत में पंचायत संरचना का अंतर

- चोलकालीन दक्षिण भारत में पंचायतें व्यापक अधिकार रखती थीं, जबकि उत्तर भारत में स्थिति कुछ अलग थी।
- उत्तर भारत में कई स्थानों पर पंचायत में केवल **5 सदस्य** होते थे, जिन्हें "पंचकुली" या "पंचमंडल" कहा जाता था।

ग्राम पंचायत के प्रमुख अधिकार और कर्तव्य

(*क्कर और भूमि प्रबंधन*)

- दक्षिण भारत में पंचायतें **भूमि राजस्व की वसूली**, **राजस्व माफी (राहत)**, अकाल जैसी आपदाओं में सरकार से बातचीत, और कर न चुकाने वालों की- **भूमि की नीलामी** करने में सक्षम थीं।
- गाँव की **परती भूमि (बंजर)** का स्वामित्व पंचायत के पास होता था।

(खविवाद निपटान)

- गंभीर अपराध पंचायत के अधिकार (जैसे हत्या) क्षेत्र से बाहर थे, परंतु संपत्ति विवाद जैसे बड़े मामलों का समाधान पंचायत कर सकती थी।
- पंचायत के निर्णय को राज्य द्वारा मान्यता और लागू करने की शक्ति प्राप्त थी।

(गमंदिर प्रबंधन)

- कई मंदिरों की अपनी अलग समिति होती थी।
- यदि ऐसा न हो, तो पंचायत या उसकी उपसमिति-पूजापाठ, मंदिर की मरम्मत, और निधि के उपयोग पर निगरानी रखती थी।

(घवित्तीय कार्य)

- पंचायतें बैंकर्स का कार्य भी करती थीं —
 - स्थायी जमा स्वीकार करना
 - ब्याज की सही उपयोगिता सुनिश्चित करना
 - कर मुक्त भूमि बनाने के लिए पूंजीकृत-कर राशि स्वीकार करना और उसके ब्याज से वार्षिक कर भुगतान करना
- अकाल जैसी परिस्थितियों में ग्राम की सामूहिक भूमि गिरवी रखकर ऋण लेना भी पंचायत करती थी।

(आवर्जनिक निर्माण और विकास)

- जंगल और बंजर भूमि को खेती योग्य बनाना
- सिंचाई तालाब और नहरों का निर्माण, मरम्मत और रखरखाव
- सड़क निर्माण व चौड़ीकरण, कुओं की खुदाई और मरम्मत
- सराय बनवाना (विश्राम गृह)
- सांस्कृतिक और शैक्षिक विकास के उपाय करना

6. संसाधन और आर्थिक सहयोग

- पर्याप्त प्रमाण हैं कि केंद्र सरकार गाँव की आय से एक छोटा हिस्सा पंचायत को खर्च करने की अनुमति देती थी, ताकि वे स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा कर सकें।

ग्राम परिषदों की संरचना और कार्यप्रणाली

उत्तरमेरी (Uttaramerur) में विभिन्न उप समितियों के-पद्धति से किया (चिट्टी डालकर) सदस्यों का चयन लॉटरी जाता था। गाँव के 30 वार्डों में से प्रत्येक के लिए कई नामांकन होते थे, और प्रत्येक नाम को अलग अलग पर्ची पर लिखा-में (घड़े) जाता था। प्रत्येक वार्ड की सभी पर्चियाँ एक बर्तन डाल दी जाती थीं। फिर एक छोटे बच्चे, जो पूरी तरह निर्दोष हो और जिसे इस प्रक्रिया की समझ न हो, से एक पर्ची उठाने को कहा जाता था। जिस व्यक्ति का नाम उस पर्ची पर होता था, वह उस वार्ड के लिए निर्वाचित माना जाता था। इस

प्रकार यहाँ चुनाव प्रचार या दलगत राजनीति के लिए कोई स्थान नहीं था।

आधुनिक प्रकार के चुनाव, जो दलगत ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा को जन्म देते हैं, उस समय प्रचलित नहीं थे। सम्मानित ग्रामीणों की आम सभा में सर्वसम्मति से व्यक्त जनमत के आधार पर ही व्यक्तियों को समय समय पर परिषद में लिया-जाता था। जातिगत पक्षपात भी चुनाव में बाधक नहीं था — गुप्त काल में कई गैर ब्राह्मण सदस्य परिषद में कार्यरत थे-मराठा काल के अनेक गाँव पंचायतों के निर्णयों पर न केवल ब्राह्मणों-गैर, बल्कि अछूत वर्ग के लोगों के भी हस्ताक्षर मिलते हैं।

इस प्रकार चुने गए 30 व्यक्तियों को विभिन्न उप समितियों-में बाँटा जाता था—

1. पहली समिति: गाँव के बागवगीचों की देखरेख।
2. दूसरी समिति: गाँव के तालाब और जल वितरण व्यवस्था की देखरेख।
3. तीसरी समिति: विवाद निपटान।
4. चौथी समिति (जाँच समिति-सोना): सभी के लिए निष्पक्ष रूप से सोने की जाँच करना।
5. पंचवार समिति: विशेष कार्यों की देखरेख।

इन पाँच उप समितियों के अलावा-, एक सामान्य पर्यवेक्षण समिति होती थी जिसे वार्षिक समिति (संवत्सर (वारियन-समितियों की संख्या और कार्य गाँव की- कहा जाता था। उप आवश्यकताओं के अनुसार बदलते रहते थे—कहीं भूमिसर्वेक्षण समिति, मंदिर समिति या शिक्षा समिति भी मिलती थी। चोल प्रशासन जैसी उप समितियाँ उत्तर भारत में प्रचलित-नहीं थीं। उत्तर भारत में गाँव परिषद सामान्यतः पाँच सदस्यों की होती थी, जिसे गुप्तकालीन अभिलेखों में पंचमंडल और मध्यकालीन अभिलेखों में पंचकुली कहा गया है।

दक्षिण भारत के अभिलेख स्पष्ट करते हैं कि गाँव परिषद भूमि राजस्व की वसूली और यहाँ तक कि उसकी माफी का भी कार्य करती थी। अकाल या अन्य आपदा के समय सरकार से रियायतों के लिए बातचीत करती थी और कर न चुकाने वालों की भूमि की नीलामी करती थी। कर्नाटक, महाराष्ट्र और उत्तर भारत के अन्य भागों में गाँव परिषदों को इतने अधिकार थे या नहीं, यह स्पष्ट नहीं है। फिर भी, गाँव की बेकार भूमि का स्वामित्व परिषद के पास रहता था।

विवाद निपटान गाँव परिषद का एक अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य था। मृत्युदंड वाले गंभीर अपराध या अनैच्छिक हत्या के मामले इनके अधिकार क्षेत्र से बाहर होते थे, लेकिन हज़ारों मूल्य की संपत्ति विवाद भी यह परिषद निपटा सकती थी। स्मृति, अभिलेख और मराठा काल के दस्तावेज़ बताते हैं कि गाँव परिषद के निर्णयों को राज्य द्वारा लागू किया जाना अनिवार्य था।

मंदिर प्रबंधन के लिए कई बार अलग समितियाँ होती थीं, परंतु जहाँ ऐसा नहीं होता था, वहाँ परिषद या उसकी कोई

उप समिति यह कार्य करती थी—पूजा की व्यवस्था, निधियों का सही उपयोग और मंदिर की मरम्मत आदि।

वित्तीय कार्य में भी परिषद सक्रिय रहती थी—

- स्थायी जमा स्वीकार करना और ब्याज का सही उपयोग सुनिश्चित करना।
- किसी भूमि के सरकारी कर का पूँजीकरण कर उसे करमुक्त बनाना और वार्षिक ब्याज से कर चुकाना।-
- अकाल जैसी विपत्ति में गाँव की सामूहिक भूमि गिरवी रखकर सार्वजनिक ऋण लेना (विशेषकर)। (चोल काल में)

लोककल्याण कार्य- में—

- बंजर और वन भूमि को खेती योग्य बनाना।
- सिंचाई टैंक और नहरों का निर्माण, मरम्मत और रखरखाव।
- सड़कों की मरम्मत, चौड़ीकरण हेतु भूमि खरीदना।
- पीने के पानी के लिए कुएँ बनाना और सुधारना।
- सराय बनाना, सांस्कृतिक और शैक्षिक उन्नति को प्रोत्साहित करना।

आय के स्रोत—

- केंद्रीय सरकार गाँव परिषद को गाँव में वसूले गए राजस्व का एक छोटा प्रतिशत अपने कार्यों के लिए रखने की अनुमति देती थी।
- अपराधियों पर गाँव की अदालत द्वारा लगाए गए जुर्माने।
- अतिरिक्त कर और उपकर लगाने का अधिकार।
- कभी कभी केंद्र सरकार की सीधी अनुदान सहायता-या आवश्यक सामग्री निःशुल्क या रियायती दर पर उपलब्ध कराना।

केंद्रीय सरकार और ग्राम परिषद के बीच संबंध – सरल व्याख्या

प्राचीन भारत में ग्राम परिषद और केंद्रीय सरकार (पंचायत) के बीच ऐसा संबंध था, जिसमें ग्राम को काफी हद तक स्वतंत्रता मिली हुई थी, लेकिन केंद्रीय सरकार सामान्य निगरानी रखती थी।

1. शक्ति का स्रोत—

कुछ पुराने धर्मग्रंथ (स्मृतियाँ) कहते हैं कि ग्राम परिषद की शक्ति राजा से आती है, लेकिन असल में ग्राम परिषदें बहुत पुरानी थीं और उनकी शक्ति पीढ़ीपीढ़ी चली आ रही प्रथाओं और परंपराओं-दर-से मिलती थी।

2. केंद्रीय सरकार का हस्तक्षेप

जब केंद्र मजबूत हुआ, तब उसने कई बार ग्राम परिषद की शक्तियाँ सीमित करने की कोशिश की।

- दक्षिण भारत के उत्तमरमेरुर में ग्राम की प्राथमिक सभा खुद अपनी समितियों का चुनाव करती थी।
- उत्तर भारत में पंचायत में केवल 5 सदस्य होते थे, जिन्हें पूरे गाँव की सहमति से चुना जाता था।
- इन स्थितियों में केंद्रीय सरकार को सीधे हस्तक्षेप करने का मौका नहीं मिलता था।

3. केंद्रीय सरकार की निगरानी के तरीके—

- समय समय पर ग्राम प्रधान को जिला-मुख्यालय बुलाकर जानकारी लेना।
- अधिकारियों को गाँव भेजकर खातों और कामकाज की जाँच करना।
- दो ग्राम सभाओं में विवाद होने पर मामला केंद्रीय सरकार को भेजना।

4. ग्राम परिषद की भूमिका—

- ग्रामवासियों के हितों की रक्षा करना।
- उनके भौतिक, नैतिक और बौद्धिक विकास में योगदान देना।

5. विकेंद्रीकरण की नीति—

प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारक मानते थे कि शासन का बड़ा हिस्सा स्थानीय प्रशासन के हाथों में होना चाहिए।

- जिला, नगर और गाँव के प्रशासन को बड़े अधिकार दिए जाते थे।
- स्थानीय गैर सरकारी परिषदें उनकी-निगरानी करती थीं।

निष्कर्ष

प्राचीन भारत में ग्राम पंचायतें काफी शक्तिशाली थीं और अपने स्तर पर स्वतंत्र निर्णय लेती थीं। केंद्रीय सरकार का काम केवल यह देखना था कि सब कुछ सही तरीके से चल रहा है, यानी निगरानी और मार्गदर्शन, न कि हर छोटे निर्णय में हस्तक्षेप।

प्राचीन भारत में ग्राम पंचायत और वित्तीय प्रशासन ग्राम पंचायत के कामयाब होने के कारण

- पुराने समय में लोग सत्य, चरित्र और ईमानदारी को बहुत महत्व देते थे।
- वे अनुभव और उम्र का सम्मान करते थे।
- पंचायत के सदस्य चुनाव से नहीं, बल्कि जनमत की सहमति से चुने जाते थे।
- आधुनिक लोकतंत्र जैसी वोटिंग और राजनीतिक दलों की खींचतान तब नहीं थी।

- उस समय ईश्वर और नरक का भय लोगों को सही कार्य करने के लिए प्रेरित करता था, लेकिन आज के समय में उसकी जगह नागरिक कर्तव्य भावना को विकसित करना होगा।

प्राचीन बनाम आधुनिक पंचायत का अंतर

- प्राचीन पंचायतें लगभग सभी न्यायिक मामलों का निपटारा करती थीं, सिवाय गंभीर अपराधों के।
- उस समय जीवन सरल था, कानून सबको ज्ञात था, और विवाद स्थानीय स्तर पर ही होते थे।
- आज का कानून जटिल है, तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता होती है, और विवाद अक्सर अलग-अलग क्षेत्रों के लोगों के बीच होते हैं।
- आधुनिक पंचायतें इसलिए इतने बड़े न्यायिक अधिकार नहीं संभाल सकतीं।
- अशिक्षा, स्वार्थ और गुटबाज़ी जैसी समस्याएँ भी आज बड़ी चुनौती हैं।

पंचायतों की आर्थिक व्यवस्था

- प्राचीन भारत में गाँवों को भूमि राजस्व का एक-हिस्सा वापस मिल जाता था (लगभग 15-20%) ताकि वे अपने खर्च पूरे कर सकें।
- अगर आज राज्य सरकारें भी अपनी आय का एक हिस्सा पंचायतों को दें, तो उनकी वित्तीय समस्या काफी हद तक सुलझ सकती है।

वित्तीय प्रशासन (Financial Administration)

4. प्राचीन आर्थिक दृष्टिकोण

- पश्चिमी धारणा के विपरीत, प्राचीन भारत केवल आध्यात्मिक नहीं था, बल्कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में संतुलन रखता था।
- कौटिल्य, शुक्र और याज्ञवल्क्य जैसे विद्वानों ने माना कि धन धर्म के पालन के लिए आवश्यक है और मजबूत वित्त राज्य की स्थिरता और समृद्धि के लिए जरूरी है।
- समृद्ध कोष और पर्याप्त भंडार को राज्य के मुख्य अंग माना गया।

कर प्रणाली (Taxation System)

(i) न्यायपूर्ण और संतुलित कर

- जैसे पेड़ से फल केवल पकने पर तोड़े जाते हैं, वैसे ही कर भी उचित समय पर ही वसूल करना चाहिए।
- ज्यादा कर वसूलना गाय का अधिक दुग्ध निकालने जैसा है, जिससे अंत में नुकसान होता है।
- राजा को मधुमक्खी की तरह होना चाहिए जो फूल से शहद ले लेकिन पौधे को हानि न पहुँचाए।

- कर निश्चित और पारदर्शी हों—भुगतान का समय, तरीका और मात्रा पहले से तय हो।

(ii) कर में समानता

- राज्य और करदाता दोनों को (व्यापारी/किसान) लगे कि उन्हें उचित लाभ मिल रहा है।

(iii) व्यापार और उद्योग पर कर

- केवल शुद्ध लाभ पर कर लगे, न कि सकल आय पर।
- उत्पादन की लागत और श्रम का मूल्यांकन पहले किया जाए।
- यदि कर बहुत ज्यादा हो गया तो लोग उत्पादन बंद कर देंगे।

(iv) कला और हस्तशिल्प पर कर

- कच्चे माल, लागत, कलाकार की देखभाल और उसकी स्थिति का ध्यान रखा जाए।

(v) एक वस्तु पर एक बार कर

- एक ही वस्तु पर दो बार कर नहीं लगना चाहिए।

(vi) कर वृद्धि

- यदि कर बढ़ाना हो तो धीरे-धीरे बढ़ाया जाए, अचानक नहीं।

(vii) आयात (Imports) पर कर

- विक्री मूल्य, निवेश, दूरी, परिवहन लागत और व्यापारी के जोखिम को ध्यान में रखकर कर लगाया जाए।

(viii) हानिकारक और विलासी वस्तुएँ

- राज्य के लिए हानिकारक या बेकार विलासी वस्तुओं पर ज्यादा कर लगाकर हतोत्साहित करें।

(ix) लाभकारी आयात

- लाभदायक वस्तुओं को आयात शुल्क से मुक्त रखा जाए।

प्राचीन भारत की कर नीति और आर्थिक दृष्टिकोण

1. दुर्लभ वस्तुओं पर छूट – जो वस्तुएँ देश में दुर्लभ हों या भविष्य में उत्पादन के लिए आवश्यक हों, उन्हें बिना कर के आयात करने की अनुमति दी जाती थी।
2. कुछ वस्तुओं के निर्यात पर रोक, आयात पर प्रोत्साहन – हथियार, कवच, धातुएँ, युद्ध वाहन, दुर्लभ चीजें, अनाज और पशुधन जैसी वस्तुओं के निर्यात पर रोक थी, लेकिन इनके आयात पर कोई कर नहीं लगाया जाता था ताकि देश की सुरक्षा और उत्पादन क्षमता मजबूत बनी रहे।
3. प्रतिपूरक शुल्क (Countervailing duty) – कुछ मामलों में, खासकर विदेशी मदिरा और निजी मदिरा उत्पादन पर, 'राजकीय उत्पादन' के बराबर क्षतिपूर्ति के सिद्धांत पर कर लगाया जाता था।
4. आर्थिक सिद्धांत –

- उत्पादन क्षमता पर कोई रोक नहीं लगनी चाहिए।
- पूंजी पर नहीं, बल्कि लाभ पर कर लगाना चाहिए।
- नई उद्योगों को बढ़ावा देने वाली वस्तुओं को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।
- ऐसी निर्यात वस्तुएँ जो केवल कृत्रिम समृद्धि लाएँ और दाम बढ़ाएँ, उन्हें हतोत्साहित करना चाहिए।
- साधारण उद्योगों को कोई विशेष सुरक्षा नहीं।
- कर धीरे धीरे और नागरिकों की क्षमता-के अनुसार लगाया जाए, न कि कठोर या अपमानजनक तरीके से।

5. विशेष परिस्थितियों में अतिरिक्त कर

राष्ट्रीय संकट के (जैसे प्राकृतिक आपदा या युद्ध) समय ही अतिरिक्त कर वसूला जाए, और पहले जनता को स्थिति की पूरी जानकारी दी जाए ताकि वे स्वेच्छा से योगदान करें।

यदि फिर भी पर्याप्त धन न जुटे, तो राजा सम्मान या पद बेच सकता था, या अति संकट की स्थिति में निगमों, धार्मिक संस्थानों या पापी लोगों से धन वसूल सकता था।

6. कर माफी के सिद्धांत

सामान्य परिस्थितियों में नागरिकों की भुगतान क्षमता के अनुसार ही कर लिया जाए और आवश्यकता पड़ने पर आंशिक या पूर्ण कर माफी भी दी जा सकती थी।

प्राचीन भारत में कर और आर्थिक नीतियाँ

प्राचीन भारत में कर व्यवस्था केवल धन वसूलने का साधन नहीं थी, बल्कि यह आर्थिक स्थिरता, उत्पादन में वृद्धि और जनकल्याण को ध्यान में रखते हुए बनाई जाती थी।

महाभारत और अर्थशास्त्र जैसे प्राचीन ग्रंथों में कर लगाने, छूट देने और आपात स्थिति में अतिरिक्त राजस्व जुटाने के लिए कई स्पष्ट सिद्धांत बताए गए हैं।

1. दुर्लभ और उत्पादन के लिए आवश्यक वस्तुओं पर कर छूट
राज्य का मानना था कि जो वस्तुएँ देश में दुर्लभ हैं, या भविष्य में किसी उद्योग या उत्पादन के लिए जरूरी होंगी, उनके आयात पर कोई कर नहीं लगाना चाहिए। इसका उद्देश्य यह था कि

- देश में उन वस्तुओं की उपलब्धता बनी रहे,
- और भविष्य के उत्पादन या तकनीकी विकास में रुकावट न आए।

उदाहरण के लिए — कोई विशेष धातु, औजार, बीज, या तकनीकी उपकरण अगर देश में उपलब्ध न हो, तो उसे कर-मुक्त आयात किया जाता था।

2. कुछ वस्तुओं के निर्यात पर रोक और आयात पर प्रोत्साहन
कुछ वस्तुएँ इतनी महत्वपूर्ण मानी जाती थीं कि उनका निर्यात बिल्कुल प्रतिबंधित था (देश से बाहर भेजना), ताकि देश के अंदर उनकी कमी न हो।

इनमें शामिल थे:

- हथियार और कवच
- धातुएँ विशेषकर युद्ध और उद्योग में इस्तेमाल (होने वाली)
- सैन्य वाहन
- दुर्लभ वस्तुएँ
- अनाज
- पशुधन

इन वस्तुओं का आयात मुक्त किया जाता-कर (देश में लाना) था, ताकि सेना और उत्पादन क्षमता हमेशा मजबूत बनी रहे।

3. प्रतिपूरक शुल्क (Countervailing Duty)

कुछ विशेष परिस्थितियों में, जैसे विदेशी शराब और निजी शराब निर्माण पर, राज्य कर लगाता था। यह कर के सिद्धांत पर आधारित था "क्षतिपूर्ति"— मतलब, अगर राज्य खुद शराब बनाता और बेचता है, तो निजी और विदेशी शराब पर ऐसा कर लगाया जाता जिससे राज्य के उत्पाद को नुकसान न हो।

4. आर्थिक नीति के मुख्य सिद्धांत

- उत्पादन शक्ति को बाधित न करना – कर इतना अधिक न हो कि लोग उत्पादन या व्यापार ही बंद कर दें।
- पूंजी पर नहीं, लाभ पर कर लगाना – किसी व्यक्ति के पास जो संपत्ति है, उस पर नहीं, बल्कि व्यापार या उत्पादन से हुए लाभ पर कर लगाया जाता था।
- नई उद्योगों को प्रोत्साहित करना – ऐसी वस्तुओं पर कर कम या खत्म कर दिया जाता था, जो नए उद्योग शुरू करने में मदद करें।
- कृत्रिम समृद्धि को रोकना – अगर कोई वस्तु निर्यात करने से देश के अंदर उसकी कीमत बहुत बढ़ जाती है, तो उस निर्यात को रोका जाता था।
- साधारण उद्योगों को कोई विशेष संरक्षण नहीं – केवल विशेष और रणनीतिक महत्व के उद्योगों को प्राथमिकता दी जाती थी।
- कर धीरे धीरे और क्षमता के अनुसार लेना – कर इतना हो कि लोग बिना कष्ट दिए चुका सकें, और यह धीरे-धीरे बढ़े, न कि अचानक कठोर तरीके से।

5. राष्ट्रीय संकट में अतिरिक्त कर

अगर देश में कोई आपात स्थिति आती थी, जैसे —

- प्राकृतिक आपदा (सूखा), बाढ़
- युद्ध
- बड़े पैमाने पर अकाल

तो ही अतिरिक्त कर लगाया जाता था। लेकिन इसके लिए पहले जनता को पूरी स्थिति समझाई जाती थी और उनसे स्वेच्छा से योगदान की अपील की जाती थी।

अगर इसके बाद भी पर्याप्त धन नहीं आता, तो राजा के पास कुछ और विकल्प होते थे —

- सम्मान या पद बेच देना (उपाधि)
- निगमों, धार्मिक स्थलों या उन लोगों से धन लेना जो 'पापी' या दुष्ट माने जाते थे
- अत्यधिक संकट की स्थिति में किसी संस्था या समुदाय की संपत्ति लेना

6. कर माफी (Tax Remission)

सामान्य परिस्थितियों में कर वसूली हमेशा लोगों की आय और क्षमता के अनुसार की जाती थी।

अगर हालात खराब हों, तो आंशिक या पूर्ण कर माफी दी जा सकती थी, ताकि जनता पर अतिरिक्त बोझ न पड़े।

7. निष्कर्ष

प्राचीन विद्वानों का मानना था कि —

- कर नीति न्यायसंगत होनी चाहिए
- उत्पादन और व्यापार को प्रोत्साहन मिलना चाहिए
- अतिरिक्त कर केवल आपातकाल में लगाया जाए
- और कर हमेशा जनता की आर्थिक क्षमता के अनुसार हो

ये सिद्धांत आज भी आधुनिक कल्याणकारी राज्यों की कर नीतियों से मेल खाते हैं।

संदर्भ सूची (References)

1. • **महाभारत**. पुणे भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च : इंस्टीट्यूट, 1929-1933, XII.5.37-38; XII.85; IV.5.38; XII.87.31
2. • **कौटिल्य अर्थशास्त्र**. अनुवाद उदयवीर शास्त्री : मेहर चंद लक्ष्मण दास :दिल्ली, 1970 (हिंदी), I.3; I.15; II.9; II.10; I.8।

3. • **मनुस्मृति**. अनुवाद हर गोविंद :शास्त्री। वाराणसी चौखंबा संस्कृत सीरीज कार्यालय :, 1970 (हिंदी), VII.53-54; VII.115; VII.122-144।
4. • **शुक्रनीति**. अनुवाद :ब्रह्माशंकर मिश्र। वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज कार्यालय, 1968 (हिंदी), अध्याय II; II.70; II.172; I.374-375; I.17।
5. • **रामायण**, II.100.36।
6. • **अल्लेकर, ए.एस. स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एंशिअंट इंडिया**। दिल्ली मोतीलाल बनारसीदास :, 1958, पृष्ठ 161, 164, 210, 213-214।
7. • **केंद्रीय सचिवालय का विकास** — रोम में, हैड्रियन के समय में (द्वितीय शताब्दी ईस्वी) विकसित; भारत में कम से कम तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व तक विकसित।
8. **महाभारत**. पूना भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च : इंस्टीट्यूट, 1929-1933, XII.5.37-38; XII.85; IV.5.38; XII.87.3.
9. **कौटिल्य अर्थशास्त्र**. अनुवाद . उदय वीर शास्त्री : मेहर चंद लक्ष्मण दास :दिल्ली, 1970 (हिंदी), I.3; I.15; II.9; II.10; I.8.
10. **मनुस्मृति**. अनुवाद हर :गोविंद शास्त्री :वाराणसी . चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1970 (हिंदी), VII.53-54; VII.115; VII.122-144.
11. **शुक्र नीति**. अनुवाद :वाराणसी . ब्रह्म शंकर मिश्र : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1968 (हिंदी), अध्याय II; II.70; II.172; I.374-375; I.17.
12. **रामायण**, II.100.36.
13. **अल्लेकर, ए.एस . स्टेट एंड गवर्नमेंट इन ऐनशिअंट इंडिया**. दिल्लीमोतीलाल बनारसीदास :, 1958, पृ. 161, 164, 210, 213-214.
14. **केंद्रीय सचिवालय पर टिप्पणी** — रोम में इसका विकास केवल हैड्रियन के (द्वितीय शताब्दी ईस्वी) समय हुआ; भारत में इसका विकास कम-से-तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व तक हो चुका था।
15. **अर्थशास्त्र**, उपरोक्त संदर्भ संख्या 1, II.10; और **शुक्र नीति**, उपरोक्त संदर्भ संख्या 1, II.172 (समान योग्यताओं का निर्देश)।
16. **मनुस्मृति**, उपरोक्त संदर्भ संख्या 1, VII.122-144; **अर्थशास्त्र**, उपरोक्त संदर्भ संख्या 1, II.9; **शुक्र नीति**, उपरोक्त संदर्भ संख्या 1, I.374-375.
17. वही, I.11-12.